भगवान् महावीर और उनका जीवन दर्शन

—डॉ० ए०एन० उपाध्ये

'बंगलौर की जैनमिशन सोसाइटी' और 'इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर' के संयुक्त तत्त्वावधान में 23 अप्रैल 1956 को डॉ० ए०एन० उपाध्ये का 'महावीर जयन्ती' के शुभ अवसर पर अंग्रेजी में भाषण हुआ था, जिसे इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने जुलाई 1956 में प्रकाशित कर प्रसारित कराया था।

श्री कुन्दनलाल जैन ने इस लेख का जून 1962 में अनुवाद कर उसे तत्कालीन प्रतिष्ठित पत्रिका 'अनेकान्त', वर्ष 15 की तृतीय किरण में प्रकाशित करा दिया। आज 40 वर्ष बाद भी इस लेख की महत्ता एवं उपयोगिता तदनुरूप ही है, तथा इसकी ताजगी में कोई अन्तर नहीं आया है; अत: जिज्ञासु पाठकों की जिज्ञासा-शान्त्यर्थ पुन: 'प्राकृतविद्या' में प्रकाशनार्थ प्रस्तुत है।

भगवान् महावीर की 2600वीं जन्म-जयन्ती के पावन अवसर पर इस लेख की उपादेयता और अधिक बढ़ गई है।

—सम्पादक

भारत के कुछ विशिष्ट पुरुषों में अध्यात्म एवं ज्ञान की पिपासा अनादिकाल से ही प्रचलित रही है। उस समय भी जब कि जनसाधारण अज्ञानता, गरीबी एवं अपने पूर्वजों की अन्धश्रद्धा तथा पूजा में ही लगा रहता था। धार्मिक नेताओं का महत्त्व अपने भक्तों के विश्वास विजय में ही निहित था। भारत में धार्मिक नेता दो प्रकार के रहे हैं—एक पण्डों व पुरोहितों के रूप में उपदेशक, तथा दूसरे परोपकारी एवं आत्मशोधी के रूप में मुनिगण। उपदेशक शास्त्रोक्त-पद्धति के महारथी होते थे। वे कहा करते थे कि "विश्व एवं देवताओं तक का अस्तित्व और उद्धार उनके द्वारा प्रवर्तित बलिदान के मार्ग से ही सम्भव है", इनके सम्प्रदाय बहुदेववादी थे। देवता लोग प्राय: प्राकृतिक शक्ति के केन्द्र थे और मानव-समाज उनकी असीम कृपा पर निर्भर था। पुरोहित लोग देवताओं को बलि चढ़ा-चढ़ा कर ही मानवों की सुरक्षा का आडम्बर रचा करते थे। यह वैदिक विचारधारा थी, जो भारत में उत्तर-पश्चिम से आई और अपने अद्‌भुत प्रभाव से यत्र-तत्र अनेकों अनुयायी बनाती हुई भारत के पूर्व और दक्षिण में फैल गई।

इसके विपरीत भारत के पूर्व में गंगा-यमुना के कछारों में कुछ आत्मशोधी साधु हुये,

जो उच्च राजघरानों से सम्बन्धित थे तथा उच्च चिन्तन एवं धार्मिक क्रांति के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में प्राणीमात्र धार्मिक चिन्तन का केन्द्र है, साथ ही अचेतन-जगत् से उसके सम्बन्ध टूटने का एक साधन भी है। इससे वे साधु-लोग जीवन की इहलौकिक और पारलौकिक समस्याओं पर सोचने के लिए बाध्य हुए; क्योंकि उनके समक्ष आत्मा (चेतन) और कर्म (जड़ पदार्थ) दोनों ही यथार्थ थे। इहलौकिक अथवा पारलौकिक जीवन आत्मा और कर्म के पारस्परिक अनादि-निधन सम्बन्धों का परिणाम ही तो है और यही सांसारिक दुखों का कारण भी है; पर धर्म का मूल उद्देश्य कर्म को आत्मा से पृथक् करना है, जिससे आत्मा पूर्ण मुक्त हो शुद्ध ज्ञानात्मक चिदानन्द चैतन्य का आनन्द-अनुभव कर सके। मनुष्य अपना स्वामी स्वयं ही है। उसके मन, वचन और काय उसे अपने ही रूप में परिणमन करते हैं तथा कराते रहते हैं। इसप्रकार मनुष्य अपने भूत-भविष्य का निर्माता व विघटनकर्ता स्वयं ही है। धार्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए वह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को अपना आदर्श मानता है और जब तक आध्यात्मिक उन्नति की चरम-सीमा एवं परिपूर्णता (कृतकृत्यता) नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक मुनि-मार्ग का अवलम्बन कर कर्म-संघर्ष में रह बना रहता है।

इसप्रकार हम स्पष्टरूप से देखते हैं कि प्राच्य धार्मिक विचारधारा में ईश्वर-कर्तृत्व एवं उसके प्रचारक पुरोहितों का कोई स्थान न था। यह युग तो जैन तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, आजीवक सम्प्रदाय के गोशाल, सांख्यदर्शन के कपिलऋषि एवं बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध के प्रतिनिधित्व का काल था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में विशेषतया शिक्षित वर्ग में भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को नवीनरूप में ढालने के प्रति विशेष जागरुकता दिखाई दे रही है। बड़े हर्ष की बात है कि इस प्रसंग में महावीर और बुद्ध को बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से स्मरण किया जाता है और उनके महत्त्व को आंका जाने लगा है। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे महापुरुषों को, जिन्होंने अपनी शिक्षाओं एवं उपदेशों द्वारा इस देश को नैतिकता एवं मानवता के क्षेत्र में इतना अधिक महान् और समृद्ध बनाया, अपनी ही भूमि में उन्हें कुछ समय के लिए भुला दिया गया। दूसरी सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि **महावीर और बुद्ध का महत्त्व एवं उनके साहित्य का जो मूल्यांकन हम लोग सदियों पूर्व स्वयं अच्छी तरह कर सकते थे, वह सब अब पश्चिमी विद्वानों द्वारा हुआ और हम प्रसुप्त दशा में पड़े रहे।** जैन और बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में पश्चिमी विद्वानों की बहुमूल्य सेवाओं ने हमारी आँखें खोल दी हैं और आज हम इस स्थिति में हो सके हैं कि अपनी विभूतियों को पहचान सकें।

24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे; उनके विचार एवं सिद्धांत-संस्कृति के अनुकूल थे। भगवान् महावीर एवं उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने जो भी

उपदेश दिये थे, वे सब आज 'जैनदर्शन' के नाम से विख्यात हैं; पर आज वे हमारे जीवन में सक्रियरूप से नहीं उतरे हैं, जिनका जैन-साहित्य में विभिन्न भाषाओं द्वारा विवेचन किया गया था।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के इतिहास में बिहार प्रान्त का बड़ा महत्त्व है। भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, राजर्षि जनक जैसी पुण्य विभूतियों को प्रदान करने का श्रेय इसी बिहार की पुण्यभूमि को है। मीमांसा, न्याय एवं वैशेषिक जैसे श्रेष्ठ दर्शनों की बहुमूल्य भेंट देने वाली मिथिला का गौरव भी तो बिहार प्रान्त ही को प्राप्त होता है। लगभग 2500 वर्ष पूर्व वैशाली (वसाढ़, पटना से 30 मील उत्तर में) एक समृद्धशाली राजधानी थी, इसके आसपास ही कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्ड के महाराज सिद्धार्थ और उनकी महारानी त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से भगवान् महावीर जन्मे थे। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं एवं गुणों के कारण ही ज्ञातृपुत्र, वैशालिक, वर्द्धमान और सन्मति आदि नामों से प्रसिद्ध थे। उनकी माता त्रिशला चेटक-वंश से सम्बन्धित थी, जो विदेह का सर्वशक्तिमान् लिच्छवि-शासक था, जिसके संकेत पर मल्लवंशीय एवं लिच्छवि लोग मर मिटने को तैयार रहते थे।

महावीर के विवाह के सम्बन्ध में मूल-परम्परा उन्हें बाल-ब्रह्मचारी बतलाती है। राजपुत्र होने के कारण महावीर के तत्कालीन राजवंशों से बड़े अच्छे सम्बन्ध थे। उनसे अपेक्षा की गई थी कि वे अपने पिता के राज्य का अधिकारपूर्वक उपभोग करें, पर उन्होंने वैसा नहीं किया। 30 वर्ष के होते ही उन्होंने राजकीय भोगोपभोगों का परित्याग कर डाला और आध्यात्मिक शांति की खोज के लिए मुनि-दीक्षा धारण कर ली। इसप्रकार जीवन की कठिनतम समस्याओं को सफलतापूर्वक कैसे हल करना चाहिए? —इसका एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श उन्होंने तत्कालीन जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया।

आध्यात्मिक शांति एवं पवित्रता के मार्ग में राग एवं संग्रह की प्रवृत्तियाँ बड़ी बाधक थीं, पर उन्होंने आदर्शरूप से सहर्ष उन सबका परित्याग कर दिया, स्वयं निर्ग्रंथ बन गए और दैगम्बरी वेष धारणकर साधना और तपश्चरण में तल्लीन हो गए। इस बीच उन्हें जो-जो कष्ट भोगने पड़े, उनका विस्तृत वर्णन 'आचारांगशास्त्र' में मिलता है। 12 वर्ष की कठोरतम यातनाओं के पश्चात् महावीर अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सके और समय तथा स्थान की दूरी को लांघते हुए शुद्ध एवं पूर्णज्ञान की उपलब्धि कर 'केवली' या 'सर्वज्ञ' कहलाये। उन दिनों श्रेणिक बिंबसार राजगृह के शासक थे, भगवान् महावीर की सर्वप्रथम देशना (दिव्य-ध्वनि) राजगृही के समीप 'विपुलाचल पर्वत' पर हुई थी। लगातार 30 वर्ष तक वे मगध देश के विभिन्न भागों में महात्मा बुद्ध की भाँति विहार करते रहे और जैनधर्म का प्रचार किया। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे, भगवान् महावीर ने अपने विहार-काल में जीवन की

कठिनाइयों एवं उनसे बचने के उपायों से लोगों को अवगत कराया। उन्होंने आत्मा की उच्चता एवं पवित्रता पर बल दिया, उनके उपदेश सर्वसाधारण के लिए थे। उनके अनुयायियों में राजा-महाराजा थे, गरीब-किसान भी थे। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की, जो मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविका नाम से प्रसिद्ध हुआ था; वह आज भी प्रचलित है। भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रभाव जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत में अन्यत्र भी मिलता है। वे तीर्थंकर थे, उन्होंने युगों-युगों से संत्रस्त मानवता के परित्राण एवं सर्वशान्ति की स्थापना के लिए मार्ग-निर्धारण किया था। द्वितीय शताब्दी में समन्तभद्र स्वामी ने महावीर के सिद्धांतों को, जो 'महावीर तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध थे, 'सर्वोदय' नाम दिया, जिसका इस देश में आज महात्मा गाँधी जी के बाद सामान्यत: प्रयोग किया जाता है। ईसा से 527 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर 72 वर्ष की आयु में 'पावापुर' से निर्वाण सिधारे, जिसकी खुशी में जगह-जगह दीप जलाये गए और तब से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में 'दीपावली पर्व' प्रचलित हुआ।

भगवान् महावीर के जीवन एवं कार्यों पर बड़ा विशाल नवीन और प्राचीन सभी तरह का साहित्य उपलब्ध है और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी अन्य पुरुषों की भाँति बहुत से पुराण, लोककथायें तथा अनेकों अतिशयोक्ति पूर्ण बातें लिखी गई हैं। फलत: उनके विषय में विशुद्ध वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन व शोध करना बड़ा कठिन हो गया है; क्योंकि अध्ययन व शोध के जो साधन हैं, वे साम्प्रदायिकता या धार्मिकता से अछूते नहीं हैं, उनमें साम्प्रदायिकता की गंध विद्यमान है। ऊपर मैंने जो कुछ कहा है, वह भगवान् महावीर का केवल साधारण-सा जीवन-परिचय ही है। इसप्रकार यदि भगवान् महावीर का और अधिक ऐतिहासिक अध्ययन करना कठिन है, तो मेरी राय से यह अति उत्तम होगा कि उनके सिद्धान्तों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया जाये और उनका जीवन में सक्रिय प्रयोग किया जाये; अपेक्षा इसके कि उनके व्यक्तिगत जीवन पर लम्बे-चौड़े वाद-विवाद या बहुविध बातें खड़ी हों।

वैशाली नगर अपने समय में उन्नति के चरम शिखर पर था और भगवान् महावीर की जन्मभूमि होने के कारण भारतीय धार्मिक जगत् में तो इसकी ख्याति और भी अधिक बढ़ गई थी। वैशाली की पुण्य-विभूतियों ने मानवता के उद्धार के लिये बड़े अच्छे-अच्छे सिद्धान्त सिखाये और स्वयं त्याग एवं साधनामय पावन जीवन अंगीकार किया। महावीर तो अपने समकालीनों में निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ रहे। बौद्ध ग्रंथ 'महावस्तु' में लिखा है कि भगवान् बुद्ध ने वैशाली के 'अलारा' एवं 'उद्दक' में अपने प्रथम गुरु की खोज की ओर उनके निर्देशन में जैन बनकर रहे। पश्चात् उत्पन्न मध्यमार्ग अपनाकर वैशाली में अत्यधिक सम्मानित हुए। उन्हें राजकीय सम्मान प्राप्त था, वे कूटागारशाला, (जो मुख्यतया उनके लिए ही बनाई गई थी) के महावन में रहते थे। द्वितीय बौद्ध-परिषद् की

बैठक वैशाली में ही हुई थी, अत: यह बड़ा पवित्र तीर्थस्थान माना जाने लगा, यहीं पर बौद्ध-संघ 'हीनयान' और 'वज्रयान' के रूप में विभाजित हुआ था। भगवान् बुद्ध की प्रसिद्ध शिष्या 'आम्रपाली' वैशाली में ही रहती थी, जहाँ उसने अपना उपवन महात्मा बुद्ध एवं संघ को वसीयत के रूप में अर्पण किया था। वैशाली का राजनैतिक महत्त्व भी था और यहाँ गणतन्त्रीय शासन-पद्धति प्रचलित थी। यहाँ लिच्छवि गणराज्य के राष्ट्रपति महाराज चेटक थे, जिन्होंने मल्ल की गणराज्य काशी, कौशल के 18 गणराज्य तथा लिच्छवियों के 9 गणराज्य मिलाकर एक संघशासन का सुसंगठन किया था। 'दीघनिकाय' में वज्जि- संघ की शासन-पद्धति एवं कार्य-कुशलता की श्रेष्ठता का सुन्दर वर्णन मिलता है, जो तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासनपद्धति का श्रेष्ठतम आदर्श थी। वैशाली वाणिज्य की भी विशालतम केन्द्र थी, जहाँ श्रीमंतों, वणिजों एवं शिल्पियों की मुद्रायें चला करती थीं। जब फाहियान (399-414 ई० में) भारत आया, तब वैशाली धर्म, राजनीति एवं व्यापार का एक प्रमुख-केन्द्र थी, पर अगली तीन शताब्दियों में इसका पतन प्रारम्भ हो गया और ह्वेनसाँग (635ई० में) जब भारत आया, तब तो यह बिल्कुल ही नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी और अब तो जीर्ण-शीर्ण वृद्धा की भाँति बिल्कुल ही उपेक्षित है।

आधुनिक भारतीय गणराज्य ने वैशाली-संघ की एकता से बहुत कुछ सीखा है, तथा वज्जिसंघ की एकता हमारे प्रजातन्त्र की प्रमुख आधारशिला है। और अहिंसा, जो पंचशील का प्राण है, हमारी नीति-निर्धारण की मूल-केन्द्र-बिन्दु है। हमारी केन्द्रीय सरकार हिन्दी को राजभाषा बनाकर मगध-शासन की नीति का अनुकरण कर रही है, जिसने वर्ग-विशेष की भाषा की अपेक्षा जन-साधारण की भाषा को ही प्रतिष्ठा एवं गौरव प्रदान किया था। सम्राट् अशोक के सभी लेख प्राकृत में ही उपलब्ध हैं, जो तत्कालीन जनभाषा थी। हमारे प्रधानमन्त्री पं० नेहरू को भी प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की भाँति अपने उच्चाधिकारियों की अपेक्षा जनता जनार्दन से मिलना अत्यधिक रुचिकर है। इस रूप में वैशाली को उपेक्षित नहीं कहा जा सकता है और आजकल तो केन्द्रीय शासन, बिहार शासन, भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शांतिप्रसाद जी और वैशाली-संघ के उत्साही सदस्य डॉ० जगदीशचन्द्र माथुर आदि के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप वैशाली का उत्थान हो रहा है। बिहार-शासन ने जैन और प्राकृत-साहित्य के अध्ययन के लिए यहाँ एक स्नातकोत्तर संस्था की स्थापना की है। आशा है यह ज्ञान और अध्ययन का विशाल-केन्द्र बन जायेगी !

कालचक्र की प्रबल गति एवं राजनीतिक परिवर्तनों के कारण वैशाली सर्वथा ध्वस्त हो गई और हम भारतवासी भी उसके अतीत वैभव एवं महत्त्व को भुला बैठे, पर आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वैशाली ने अपने सुयोग्य सपूतों को अब तक भी नहीं भुलाया है। वैशाली के जैन-बौद्ध-स्मारकों में वहाँ के स्थानीय मूल निवासी 'सिंह' व

'नाथ' क्षत्रिय लोगों द्वारा अधिकृत एक उपजाऊ खेत भी एक बड़े महत्त्वपूर्ण स्मारक के रूप में आज भी विद्यमान है। लोग इसे जोतते-बोते नहीं हैं; क्योंकि उनके यहाँ वंश-परम्परा से यह धारणा प्रचलित है कि **इस पवित्र भूमि पर भगवान् महावीर अवतरित हुए थे, अतः इस पुण्यभूमि को जोतना-बोना नहीं चाहिए।** भारत के धार्मिक इतिहास में यह एक अद्भुत घटना है, जो भगवान् महावीर की स्मृति अपनी ही जन्मभूमि में 2600 वर्ष बाद भी उनके सम्बन्धियों एवं वंशजों द्वारा आज भी सुरक्षित है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महावीर का समय निश्चय ही प्रतिभा, मानसिक विकास एवं सूझ-बूझ का युग था, उनके समकालीनों में केशकंबली, मक्खली-गोशाल, पकुद्ध-कच्चायन, पूरणकश्यप, संजय वेलट्ठिपुत्त और तथागत बुद्ध प्रभृति धार्मिक पुण्य-विभूतियाँ थीं। भगवान् महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों से बहुत कुछ सीखा एवं पाया था। उन्हें धर्म और दर्शन की एक सुव्यवस्थित परम्परा ही उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त हुई थी, अपितु सुसंगठित साधु-संघ एवं उनके सच्चे अनुयायी भी मिले थे। वे उस दर्शन एवं धर्म का सक्रिय प्रयोग करते थे, जिसे भगवान् महावीर तथा उनके शिष्यों ने प्रचलित किया।

महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर समकालीन थे। उनका विहार (प्रचार)-क्षेत्र भी एक ही था और वहाँ के राजवंश एवं शासक दोनों के ही भक्त थे। इन दोनों ने मानव के मानवीयरूप पर ही विशेष बल दिया था और जनता-जनार्दन को उनकी अपनी ही भाषा में उच्च नैतिक आदर्श सिखाये थे, जिनसे व्यक्तिमात्र का आध्यात्मिक धरातल ऊँचा उठा एवं सामाजिक दृढ़ता में योग मिला। ये आदर्श, भावी पीढ़ी के लिए प्राच्य अथवा मागध धर्म के श्रेष्ठ प्रतिनिधि सिद्ध हुए और श्रमण-संस्कृति के नाम से विख्यात हुए। सौभाग्य से तत्सम्बन्धी मूल-साहित्य आज भी हमें उपलब्ध है। प्रारम्भिक बौद्ध और जैन-साहित्य आज भी हमें उपलब्ध हैं। प्रारम्भिक बौद्ध और जैन-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों में एक अद्भुत समानता तथा धार्मिक एवं नैतिक चेतना प्राप्त होती है, जो न केवल 2000 वर्ष पूर्व ही उपादेय थी; अपितु आज भी अनेकों उलझनभरी मानवीय समस्याओं के सुलझाने का एकमात्र साधन है। महात्मा गांधी ने जो सत्य और अहिंसा की लौ (ज्योति) जगाई, उसकी पृष्ठभूमि में भगवान् महावीर एवं महात्मा बुद्ध के नैतिक आदर्श ही तो हैं। पाली भाषा में जो निर्ग्रंथ-सिद्धांत का विवरण मिलता है, वह जैन और बौद्ध के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्णय में अत्यधिक सहायक है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध में इतनी अधिक समानता थी कि प्रारम्भ में तो यूरोपीय विद्वान् दोनों को एक ही व्यक्ति समझने की भ्रांति कर बैठे; पर आज गम्भीर अध्ययन के विकास एवं शोध-खोज के फलस्वरूप दोनों महापुरुषों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो गया है, जिन्होंने भारतीय चिन्तनधारा के इतिहास पर एक महत्त्वपूर्ण

प्रभाव छोड़ा। यह एक ध्यान देने की बात है कि महात्मा बुद्ध ने केवलज्ञान (दिव्यज्योति) प्राप्ति से पूर्व कई विद्वानों के साथ अनेकों प्रकार के प्रयोग कर मध्यममार्ग अपनाया था तथा तत्कालीन प्रचलित अनेकों धार्मिक मान्यताओं एवं परम्पराओं का परित्याग भी किया था। उन्होंने तो भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ एवं अपने निकटतम पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ (जो उनसे केवल 200 वर्ष पूर्व हुए थे) द्वारा प्रचलित धर्म को ही अंगीकार किया और उसे ही तत्कालीन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

महात्मा बुद्ध के विचार अपने समकालीन मतों एवं विश्वासों से बहुत कम मेल खाते हैं; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि "मानवजाति के लिए मैंने कुछ नवीन खोज की है"; पर भगवान् महावीर के विचार अपनी समकालीन विचारधाराओं से बहुत मिलते-जुलते हैं, वे दूसरे के विचार समझने को सदैव उत्सुक रहते थे; क्योंकि वे उस धर्म का उपदेश साधारण रूप में परिवर्तित कर रहे थे, जो भगवान् पार्श्वनाथ के समय से प्रचलित था। उदाहरणार्थ डॉ० याकोबी ने लिखा है— "महावीर और बुद्ध दोनों ने अपने मतों के प्रचार के लिए अपने-अपने वंशों का सहारा लिया। दूसरे प्रतिद्वंद्वियों पर उनका प्रचार निश्चय ही देश के मुख्य-मुख्य परिवारों पर निर्भर था। महात्मा बुद्ध की आयु 80 वर्ष की थी, जबकि भगवान् महावीर केवल 72 वर्ष ही जिये। महात्मा बुद्ध के मध्यमार्ग ने समाज को एक नवीनता दी और नये अनुयायियों में विशेष उत्साह पैदा किया, फलस्वरूप उनका प्रभाव बड़ी दूर-दूर तक विस्तार से फैला, पर भगवान् महावीर ने तो नवीन और प्राचीन दोनों को ही अपनाया था, इसलिए वे सहयोग की भावना से ओत-प्रोत रहे। उनके समय नये अनुयायियों का प्रश्न इतना ज्वलन्त न था, जितना कि महात्मा बुद्ध के सामने था। जैन और बौद्ध साधुओं के नियमों में बड़ी समानता थी, इसका प्रबल प्रमाण यह है कि कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध ने निर्ग्रंथत्व (दिगम्बरत्व) धारण किया था, जो भगवान् पार्श्वनाथ के समय से चला आ रहा था। डॉ० याकोबी ने लिखा है कि—"जब बौद्धधर्म की स्थापना हुई, तब निगण्ठ (निर्ग्रंथ) जो 'जैन' या 'अर्हत्' के नाम से प्रसिद्ध हैं, एक महत्त्वपूर्ण वर्ग के रूप में विद्यमान थे। पालि-साहित्य में भगवान् महावीर का 'निगण्ठ-नातपुत्त' के नाम से उल्लेख मिलता है। इसप्रकार महावीर और बुद्ध ने प्रारम्भ में एक ही श्रमण-संस्कृति के आदर्शों पर अपना जीवन प्रारम्भ किया, पर आगे चलकर वे भिन्न-भिन्न हो गये और इसी तरह उनके अनुयायी भी समय और स्थान भेद के कारण भिन्न-भिन्न हो गये। पर यह एक शोध का विषय है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दोनों धर्म भारत में पैदा हुए, पर जैनधर्म तो आज भी जीवितरूप से अपनी जन्मभूमि में विद्यमान है, पर बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि को छोड़ पूर्वी क्षितिज पर पल्लवित हो रहा है —ऐसा क्यों? एक बड़ा विचारणीय प्रश्न है। अत: आज यह अत्यधिक आवश्यक है कि महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर की शिक्षाओं का जो अध्ययन हुआ,

उसे और भी अधिक विस्तार एवं शोधपूर्वक मनन, चिन्तन कर पता लगाया जाये।

जैन-सम्प्रदाय के इतिहास की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। महावीर के पश्चात् जैनधर्म का अनुवर्तन बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् एवं साधुओं ने किया, जिन्हें श्रेणिक बिम्बसार और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् प्रभावशाली शासकों का आश्रय प्राप्त था। बहुत से धार्मिक साधु, राजवंश, समृद्ध व्यापारी एवं पवित्र परिवारों ने जैनधर्म की स्थिरता एवं प्रगति के लिए बड़े-बड़े बलिदान किए फलस्वरूप भारतीय कला, साहित्य, नैतिकता, सभ्यता एवं संस्कृति के लिए जैनियों की जो कुछ भेंट है, उस पर भारत को गर्व है।

भगवान् महावीर के सिद्धान्त विधिवत् रूप से तत्कालीन लोकभाषाओं में नियमानुसार ग्रन्थबद्ध हुए, जिनकी व्याख्या निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य एवं टीकाओं के रूप में हुई और फुटकर विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गईं; उन पर आगे चलकर बड़ा विवेचनात्मक विस्तृत साहित्य तैयार हुआ। उनकी शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों को बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों एवं मुनियों ने बड़े तार्किक ढंग से सुरक्षित रखा, जबकि अन्य भारतीय पद्धतियों में ऐसा बहुत ही कम था।

भारतीय साहित्य में जैनियों की सेवा अनेकों विषयों से सम्बन्धित हैं और वे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, कन्नड़ पुरानी हिन्दी एवं पुरानी गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है। जैनाचार्यों ने भाषाओं को अपने उद्देश्य का मूल-साधन माना था, धार्मिक उदारता के कारण उन्होंने किसी एक ही भाषा पर बल नहीं दिया। धन्य है उनकी दूरदर्शिता को कि उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया तथा तमिल और कन्नड़ को इतना अधिक सुसमृद्ध किया, इसके लिए मुझे विद्वज्जनों से विशेष कुछ कहने की जरूरत नहीं है। गत कई वर्ष हुए डॉ० ह्यूलर ने जैन-साहित्य के विषय में लिखा था कि—"व्याकरण, खगोलशास्त्र और साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जैनाचार्यों की इतनी अधिक सेवायें हैं कि उनके विरोधी भी उस तरफ आकर्षित हुए। जैनाचार्यों की कुछ रचनायें तो आज यूरोपीय विज्ञान के लिए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण में जहाँ उन्होंने द्रविड़ों के बीच कार्य किया, वहाँ उनकी भाषाओं के विकास में उन्होंने पूर्ण योग दिया। कन्नड़, तमिल एवं तेलगु आदि साहित्यिक भाषायें जो जैनाचार्यों द्वारा डाली गई नींव पर ही निर्भर हैं और आज उनके ही कारण पल्लवित हो रही हैं, यद्यपि यह भाषा-विकास का कार्य उन्हें अपने मूल उद्देश्य से बहुत दूर खींच ले गया; फिर भी इससे भारतीय भाषा एवं सभ्यता के इतिहास में उन्हें बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। एक बड़े जर्मन विद्वान् ने कहा था, जो शोध-खोज से भी सिद्ध होता है कि "यदि आज ह्यूलर जीवित होते, तो भारतीय-साहित्य में जैनाचार्यों की सेवाओं पर वे बड़े उच्चकोटि के शोधपूर्ण विचार व्यक्त कर जैनत्व का महत्त्व बढ़ाते।" जैनियों ने बड़ी सावधानी एवं चिंतापूर्वक प्राचीन पाण्डुलिपियों को

सुरक्षित रखा है। जैसलमेर, जयपुर, पट्टन और मूड़बिद्री आदि स्थानों में जो इनके ही संग्रह (भंडार) हैं, निश्चय ही वे राष्ट्रीय सम्पत्ति के एक भाग हैं। उन्होंने ये संग्रह (भंडार) ऐसी विद्वत्ता एवं उदार दृष्टि से तैयार किये कि वहाँ धार्मिक द्वेष का कोई नामोनिशान (चिह्न) तक न था। जैसलमेर और पट्टन के भंडारों में तो कुछ ऐसी मूल बौद्ध-कृतियाँ उपलब्ध हैं, जो कि हम केवल तिब्बती अनुवाद से ही जान सके, इस सबका श्रेय इन भंडारों के संग्राहकों एवं निर्माताओं को ही है।

जैन-साहित्य का निष्पक्ष एवं समालोचनात्मक अध्ययन जैनधर्म और जीवन के सही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में समर्थ है। जीवन की सही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। जीवन की जैनदृष्टि से मेरा तात्पर्य उस जीवन-दर्शन से है, जिसमें जैन अध्यात्म एवं नीति (आचार) विषयक मूल-सिद्धान्तों को न्यायपूर्ण विवेचन हो और जैन उद्देश्यों की पूर्ति होती हो, आज के जैनधर्मावलंबियों की जीवन-दृष्टि से नहीं।

आध्यात्मिक दृष्टि से सभी आत्मायें अपने-अपने विकास के अनुसार (गुणस्थान रूप से) धर्म के मार्ग में अपना यथायोग्य स्थान पाती हैं। प्रत्येक की स्थिति अपने-अपने कर्मानुसार सुनिश्चित है और उनकी उन्नति अपनी-अपनी संभाव्य शक्ति पर निर्भर है। जैनियों के ईश्वर न तो विश्व के कर्त्ता हैं और न ही सुख-दु:खों के दाता। वे तो एक आध्यात्मिक मूर्ति हैं, जिन्होंने कृतकृत्यता प्राप्त कर ली है। उनकी पूजा-स्तुति केवल इसलिये की जाती है कि हम भी तदनुकूल बनकर उसी कृतकृत्यता एवं सर्वज्ञत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकें। प्रत्येक आत्मा को अपने कर्मानुसार सुख-दु:ख का फल भोगना ही चाहिए, सच तो यह है कि हर आत्मा अपना भावी भाग्यविधाता स्वयं ही हैं। किसी आत्मा के पुण्य-पाप का दूसरे के साथ विनिमय होना बिल्कुल ही निराधार है, अत: ऐसे विचारों से कोई किसी का आश्रित या आधीन नहीं बनता है और विश्वास एवं आशापूर्वक अपन कर्त्तव्य पालन करता हुआ निरंतर प्रगतिशील बना रहता है। यदि कोई पुरुष बाह्य अथवा आंतरिक दबाव के कारण दुष्ट या हत्यारा बन जाता है, तो उसे निराश नहीं होना चाहिए; क्योंकि अन्तरंग से तो वह पवित्र ही है, अत: जब कभी काललब्धि आयेगी वह स्वानुभूति पर आत्मकल्याण कर सकेगा।

जैनधर्म में कुछ आचार-संबंधी नियम सुनिश्चित हैं, जो मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में क्रमश: विकास करने में सहायक होते हैं। जब तक वह समाज में रहता है, तब तक आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ समाजसेवा की ओर विशेष आकृष्ट रहता है; पर यदि वह सांसारिक झंझटों को छोड़ मुनिपद अंगीकार करता है, तो फिर उसका सामाजिक उत्तरदायित्व घट जाता है। जैनधर्म में श्रावकों के कर्त्तव्य मुनियों जैसे ही होते हैं; पर मात्रा (Degree) में कुछ कम होते हैं, अत: श्रावक अपनी क्रियाओं का आचरण करता हुआ क्रमश: मुनिपद प्राप्त कर सकता है।

अहिंसा एक ऐसा सिद्धान्त है, जो जीवन में जैनदृष्टि का प्रवेश कराती है, जिसका मूल अर्थ है 'प्राणीमात्र पर अत्यधिक करुणाभाव रखना।' जैनधर्म की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं और हर धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि उसके द्वारा (निमित्त से) किसी को कष्ट न पहुँचे। प्रत्येक प्राणी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं गौरव है और यदि कोई अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है, तो उसे दूसरों के अस्तित्व का भी आदर करना चाहिए। एक दयालु पुरुष अपने चारों ओर दया का वातावरण बनाये रखता है। जैनधर्म में यह सुनिश्चित है कि बिना किसी जाति, धर्म, रंग, वर्ग तथा स्थान के भेदभाव से जीवन पूर्णरूपेण पवित्र एवं सम्माननीय है। जैनधर्म की दृष्टि से हिरोशिमा और नागासाकी का निवासी उतना ही पवित्र एवं श्रेष्ठ है, जितना कि लंदन और न्यूयार्क का। उनके काले-गोरे रंग, भोजन अथवा वेष-भूषा यह सब बाह्य-विशेषणमात्र ही हैं। इसप्रकार अहिंसा की प्रक्रिया वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों ही रूप से एक महान् सद्गुण है और क्रोधादि कषायों से रहित एवं रागद्वेष-विहीन। यह करुणा का भाव निस्सन्देह बड़ा प्रभावक एवं शक्तिशाली होता है।

जैनाचार का दूसरा महान् गुण है 'भाईचारा' या 'मैत्रीभाव' (Neighbourliness)। प्रत्येक पुरुष को सत्य बोलना चाहिए और दूसरे के गुणों का आदर करना चाहिए, जिससे समाज में उसका मान और विश्वास बढ़े तथा साथ ही वह दूसरों के लिए सुरक्षा का वातावरण निर्माण में सहायक बन सकें। **यह बिल्कुल व्यर्थ एवं हेय है कि अपने पड़ोसी के साथ तो दुष्टता का व्यवहार करे और समुद्र-पार के विदेशियों के प्रति विश्वबन्धुत्व एवं उदारता दिखाने का ढोंग रचें। व्यक्तिगत कारुण्य पारस्परिक विश्वास एवं आपसी सुरक्षा के भाव अपने पड़ोसी से ही आरम्भ होना चाहिए।** और फिर वे क्रमशः उत्तरोत्तर स्तर पर सक्रियरूप से समाज में फैलाना चाहिए, किन्तु कोरे रूक्ष-सिद्धान्तों के रूप में नहीं। ये सद्गुण सुयोग्य नागरिकों के अनुकूल सामाजिक एवं राजनीतिक वर्ग तैयार करते हैं, जो मानवीय दृष्टि से अच्छे आदमियों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए उत्साहित करते हैं।

तीसरा विशिष्ट गुण है ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, जो धार्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ विभिन्न दशाओं वे विभिन्न मात्राओं में सीखा जाता है। एक आदर्श धार्मिक पुरुष जब मन-वचन-कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो उसकी चिरसंचित निधि का अंतिम अवशेष उसका शरीरमात्र ही रह जाता है, जिसे स्थिर (जीवित) रखने के लिए उसकी आवश्यकतायें भी अत्यधिक सीमित रह जाती हैं और जब इनका भी धर्मसाधन में कोई योग नहीं रह जाता, तो इन्हें भी वह सहर्ष परित्याग कर देता है। सुख-शांति की खोज मानवमात्र का एक चरम लक्ष्य है। यदि वैयक्तिक प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं को विधिवत् रूप से नियन्त्रित रखने का प्रयत्न किया जाये, तो फिर मनुष्य को मानसिक

आनन्द एवं आध्यात्मिक शांति तो मिल ही जाती है। स्वेच्छापूर्वक धन की आवश्यकताओं को सीमित करना एक बहुत बड़ा सामाजिक गुण है, जिससे सामाजिक न्याय एवं उपभोग की वस्तुओं का समुचित वितरण होता रहता है। सशक्त एवं श्रीमंत लोग निर्बल एवं गरीबों को कूड़ा-करकट या उपेक्षित कदापि न समझें; अपितु वे अपनी अभिलाषाओं एवं आवश्यकताओं को स्वेच्छापूर्वक क्रमश: नियंत्रित करें, जिससे उपेक्षित वर्ग भी जीवन में अच्छी तरह जीने के सुअवसर प्राप्त कर सके। ये गुण व्यक्ति या समाज में बाहरी दबाव अथवा कानून से नहीं थोपे जा सकते, अन्यथा गुप्त पाप और छल एवं पाखण्ड की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगेंगी। अत: बुद्धिमान पुरुष को इन गुणों का क्रमश: अभ्यास कर एक उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिए, जिससे एक प्रबुद्ध एवं सशक्त समाज का क्रमिक विकास हो सके।

व्यक्ति का बौद्धिक स्तर बनाने वाले बहुत से तत्त्व हैं, जैसे वंश-परम्परा, वातावरण, पालन-पोषण, अध्ययन और अनुभव इत्यादि, पर उसके विचार एवं विश्वास (दृढ़ता) का निर्माण तो बौद्धिक स्तर से ही होता है। और वह यदि बौद्धिक ईमानदारी एवं भावाभिव्यक्ति के ऐक्य में पिछड़ जाता है, तो फिर ये सब गुण दूषित हो जाते हैं और मनुष्य की व्यक्तिगत या सामूहिक भावनाओं अथवा तौर-तरीकों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं, इसीलिए विचारों की निर्द्वन्द्वता एवं दृष्टिकोण का सहयोग दुर्लभ-सा ही होता जाता है। प्राय: हम सब अपने आपको बहुत अच्छे और ठीक समझते हैं; पर किसी विषय पर आपस में सहमत होने की अपेक्षा असहमत होना आसान ही नहीं स्वाभाविक भी है। इसी स्थिति से निपटने के लिए **जैनधर्म ने विश्व को दो बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की भेंट प्रस्तुत की है, वे हैं 'नयवाद' और 'स्याद्वाद', जो किसी विषय को समझने और समझाने में बड़े साधक होते हैं।** पदार्थ के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण 'नयवाद' से होता है। एक उलझे हुए प्रश्न के विश्लेषणात्मक परिचय का यह एक सुन्दर उपाय है। 'नय' एक ऐसा विशेष मार्ग है, जो एक सम्पूर्ण पदार्थ के किसी एक भाग अथवा दृष्टिकोण का विवेचन करता है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थ गलत नहीं समझा जा सकता। इन विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय की भी एक नितान्त आवश्यकता है, जिसमें प्रत्येक दृष्टिकोण अपनी उचित स्थिति प्राप्त कर सके और यह कार्य 'स्याद्वाद' द्वारा होता है। एक व्यक्ति अस्ति, नास्ति और उभयरूप से पदार्थ का वंर्णन कर सकता है। इन तीनों के संयोग से सात अन्य विशेषण और बन जाते हैं, जो 'स्यात्' शब्द के जुड़ने से विषय को समझने और समझाने का एक समुचित मार्ग बन जाता है। अस्ति-नास्ति के विवेचन में स्याद्वाद पृथक् नय के सत्तात्मक दृष्टिकोण को दबा देता है। प्रो० ए०बी० ध्रुव ने कहा है "स्याद्वाद काल्पनिक रुचि का सिद्धांत नहीं है, जो सत्त्व-विद्या (प्राणिविज्ञान)-सम्बन्धी समस्याओं को आसानी से सुलझा सके, अपितु यह तो

मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जीवन के ताल-मेल को बैठाता है।" एक दार्शनिक जब जैनधर्म के मूलतत्त्व अहिंसा एवं बौद्धिक सहयोग के साथ अन्य धार्मिक विचारों पर अपने मत व्यक्त करता है, तो उसमें स्याद्वाद से विचारों की निष्पक्षता आती है, और यह निश्चित करता है कि सत्य किसी की पैतृक-सम्पत्ति नहीं है और ना ही किसी जाति या धर्म की सीमाओं में सीमित है।

मनुष्य का ज्ञान सीमित एवं अभिव्यक्ति अपूर्ण है, अत: विभिन्न सिद्धान्त का निरूपण अपूर्ण ही है, ज्यादा से ज्यादा वे सत्य की एकतरफा दृष्टि को ही प्रस्तुत करते हैं, जो शब्द या विचारों द्वारा ठीक रूप से व्यक्त नहीं की जा सकती। धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व करता है, अत: सहिष्णुता जैनधर्म एवं आदर्शों की मूल आधारशिला है। इस सम्बन्ध में तो जैन- शासकों और सेनापतियों तक के आदर्श अनुकरणीय है। भारत के राजनैतिक इतिहास से यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि किसी भी जैनशासक ने कभी किसी को मौत की सजा नहीं दी, जबकि जैन साधु एवं जैनियों को अन्य धर्मावलम्बियों की धर्मान्धता का कोप-भाजन बनना पड़ा। डॉ० Saletore ने ठीक ही कहा है— **"जैनधर्म के महान् सिद्धान्त अहिंसा ने हिन्दू-संस्कृति को सहिष्णुता के सम्बन्ध में बहुत कुछ दिया है तथा यह भी सुनिश्चित है कि जैनियों ने सहिष्णुता का पालन जितनी अच्छी तरह एवं सफलतापूर्वक किया, उतना भारत के अन्य किसी वर्ग से नहीं किया।"**

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति की दया पर निर्भर था, पर आज प्रकृति के रहस्यों पर विजय पाकर वह उसका स्वामी बन बैठा है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का तेजी से विकास हो रहा है। अणु-शक्ति एवं राकेटों के आविष्कार ऐसे आश्चर्यकारी हैं कि यदि वैज्ञानिक चाहे, तो सम्पूर्ण मानव-जाति को कुछ ही क्षणों में ध्वंस कर सारी की सारी पृथ्वी को अदल-बदल सकता है; अत: आज सम्पूर्ण मानव-जाति विपत्ति के कगार पर खड़ी है, जिससे उसका मस्तिष्क पथ-भ्रष्ट हो चकरा रहा है तथा उसकी शरण में भाग रहा है, जहाँ इस विनाश से सुरक्षा (राहत) मिल सके; अत: निश्चय ही हमें अपने प्राचीन आदर्शों का पुनरंकन करना होगा।

वैज्ञानिक प्रगति मनुष्य को अधिकाधिक सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है, पर दुर्भाग्यवश मनुष्य-मनुष्य रूप से नहीं समझा जा रहा है; प्राय: गोरी जातियाँ ही मनुष्यता की अधिकारिणी समझी जाती हैं। —यही दृष्टिकोण हमारे नैतिक स्तर का विध्वंसक है। यदि विश्व का कुछ भाग अधिक सुसभ्य एवं प्रगतिशील बना हुआ समझा जाता है, तो वह निश्चय ही विश्व के बाकी भाग की नादानी एवं सज्जनता के बल-बूते पर ही बना है। मानव-जाति का सहयोगात्मक सामूहिक विकास ही जातिभेद-नीति को जड़मूल से नष्ट कर सकता है। अपनी व्यक्तिगत समृद्धता एवं श्रेष्ठता की अपेक्षा मानवमात्र की श्रेष्ठता एवं पवित्रता का महत्त्व समझा जाना चाहिए। वैज्ञानिक-प्रवृत्ति एवं

साधु-प्रवृत्ति में पारस्परिक सहयोग होने पर ही मनुष्य सही ढंग से मनुष्य के रूप में परखा जा सकता है। तकनीकी रूप से संगठित इस विश्व में अब स्व-पर का भेद बहुत ही थोड़ा रह गया है। आज अपना कल्याण दूसरों के कल्याण पर ही निर्भर है। यदि इस अहिंसा के सिद्धांत को ठीक ढंग से समझा जाये एवं प्रयोग किया जाये, तो विश्व नागरिकता के मानवीय दृष्टि की यह एक आवश्यक आधारशिला बन सकती है।

मनुष्य की नियोजित एवं सुसंगठित क्रूरता से हमें निराश नहीं होना चाहिए। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हम अपने भाग्यविधाता स्वयं ही हैं। हम आत्मनिरीक्षण करें, अपने विचारों का विश्लेषण करें तथा अपने उद्देश्यों का वैयक्तिक व सामूहिकरूप से अनुमान लगायें और किसी भी शक्ति के आगे हीनतापूर्वक झुके बिना ही इस विश्वास और आशा के साथ स्व-कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर रहें कि मनुष्य को अपने अस्तित्व एवं भलाई के लिए उन्नति का प्रयत्न करना है। देवत्व प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है और वह धर्म के मार्ग का अनुसरण कर इस देवत्व को प्राप्त कर सकता है। विज्ञान एवं तकनीकी-बुद्धिबल से हमें निर्णय करना है कि अगर हम मानव-समाज की भलाई को आगे बढ़ाना चाहते हैं अथवा स्वयं को रेडियोधर्मी धूलि के ढेर-रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं।

अच्छा पड़ोसीपन एवं लालसाओं पर नियन्त्रण, दोनों बड़े श्रेष्ठ सद्गुण हैं। सत्य सदा सत्य ही रहता है। उसे वैयक्तिक, सामूहिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक किसी भी दृष्टि से देखिए, एक ही मिलेगा। जिसे स्वयं आत्मज्ञान नहीं है और ना ही दूसरों को मनुष्यरूप से जानने की इच्छा है; वह दूसरों के साथ तो क्या स्वयं भी सुख-शांति से नहीं रह सकता है। स्व-पर विवेक ही हमारे आपसी सन्देहों को मिटाकर युद्ध के लगातार भय को सन्तुलित करता है, एवं हमें शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की स्थिति में ले जाता है।

आजकल विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता एक विलक्षण ढंग से पंगुल हो रही है। लोगों के अपने अभिप्रायपूर्ण प्रचार यथार्थ सत्य को छिपा ही नहीं देते; अपितु उसे ऐसा तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं कि सारा संसार पथभ्रष्ट हो भटक रहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विवेकी पुरुष स्वयं प्रबुद्ध रहे तथा अपने ज्ञान की सीमाओं को समझता हुआ नय एवं स्याद्वादरूप से दूसरों के दृष्टिकोणों का आदर करना सीखे। हम मानव में मानवता के विश्वास को न खोयें और परस्पर प्रत्येक का मानवरूप में ही आदर करना सीखें तथा मनुष्य को विश्व नागरिक के रूप से स्वस्थ एवं प्रगतिशील स्थिति में रहने देने में योग दें। **जैनधर्म के मूल सिद्धान्त (अहिंसा, व्रत, नयवाद और स्याद्वाद) यदि सही ढंग से समझे जावें तथा उनका ठीक ढंग से प्रयोग किया जाये, तो प्रत्येक व्यक्ति विश्व का सुयोग्यतम नागरिक बन सकता है।**

अनुवादक — कुन्दनलाल जैन

❖❖